

कांगड़ा: एक पर्यावलोकन

भूमिका

कांगड़ा जिला हिमाचल प्रदेश का सबसे ज्यादा जनसंख्या वाला जिला है। इसे पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग 128 कि.मी. लम्बी और 58 कि.मी. चौड़ी घाटी दो भागों में विभाजित करती है। समुद्र तल से इस घाटी की ऊंचाई 350 मीटर से लेकर 6975 मीटर तक है। इस सारी घाटी का पानी ब्यास नदी में पहुंचता है। इस घाटी की उत्तरी सीमा पर एक विशालकाय बर्फ से ढकी दीवार रूपी पर्वत श्रृंखला में भव्य धौलाधार है। यह पर्वत श्रृंखला दक्षिणी ढलाने घाटी के हरे भरे उपजाऊ खेतों में आकर समाप्त होती है। आरम्भ से ही इस क्षेत्र के विभिन्न जाति समूह पहाड़ी भाषा की कई उप-भाषाएं बोलते हैं।

कांगड़ा के वन प्रबन्धन की भूमिका को समझने के लिए यहां की प्रचलित भूव्यवस्था और राजस्व पद्धतियों को समझना जरूरी है। हिन्दू राज्यों के आदर्श स्वरूप में आरम्भिक शासन काल में भूमि का स्वामित्व राजा में निहित रहता था। वास्तविक सम्पत्ति अधिकार तदपि पैतृक-रूढ़िगत उपयोग अधिकार की शक्ल में होते थे। इन्हें लगभग सम्पत्ति की तरह ही गिरवी रखा और छुड़ाया जा सकता था। इन्हें वारिसी कहते थे। इसके साथ-साथ वारिसी अधिकारों के अतिरिक्त प्रत्येक परिवार को विशेष कर मौनसून के महीनों में आसपास के जंगलों और चरागाहों पर रूढ़िगत उपयोग के अधिकार प्राप्त थे।

जाहिर है कि भू-सम्पत्ति के अधिकार तो काश्तकारों के नाम नहीं थे किन्तु जोत वाली भूमि पर उनके अधिकार स्पष्ट रूप से परिभाषित थे, सदियों के उपभोग के आधार पर पास के जंगलों पर भी उनके अधिकार उल्लिखित थे।

ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रों पर यह प्रणाली लागू नहीं थी, विस्तृत जंगल और चरागाह क्षेत्रों में लम्बे काल तक इन क्षेत्रों में केवल दूर-दूर तक चरान कराने वाले चरवाहों को ही अधिकार प्राप्त थे ।

जिस प्रकार का प्रशासनिक ढांचा ब्रिटिश राज ने ब्रिटेन की राजस्व-आवश्यकताओं की पूर्ति और भारत के शोषण के लिए बनाया था, उसमें भूमि पर स्वामित्व स्पष्ट रूप से निहित करना और राजस्व प्रणाली को औपचारिक रूप देना आवश्यक था । ब्रिटिश भूमि-सम्बन्धी नीतियों के अनुसार भू-व्यवस्था की प्रक्रिया आरम्भ हुई, भूमि का सीमाङ्कन किया गया व व्यक्तिगत प्रयोग में आने वाली भूमि को निजी भूमि के रूप में वर्गीकृत किया गया । जंगल और चरागाह वाली भूमि जिस तक गांव समुदायों की पहुंच थी और उसके उत्पादों में उनका भाग-परिभाषित था - शामलात भूमि कहलाई । उस पर पारम्परिक रूढ़िगत अधिकारों को औपचारिक रूप दिया गया । गांव से दूर स्थित ऐसे जंगल जो इमारती लकड़ी व घुमन्तु चरान के लिए सार्वजनिक संसाधन संग्रह कहलाते थे, उन्हें गांव समुदायों को प्राप्त कम-ज्यादा अधिकार के आधार पर विभिन्न नाम दिए गए । वारिसी-भू-स्वामी औपचारिक तौर पर भू-स्वामी बन गए और कांगड़ा में पहली बार सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व को देखा गया ।

लगान निर्धारित व इकट्ठा करने का पारम्परिक ढंग विभिन्न क्षेत्रों में अलग - अलग तरह का था । उत्पादन के एक चौथाई से लेकर आधे भाग तक का हिस्सा राजा का होता था । जिसका निर्णय भूमि की उत्पादकता, सिंचाई सुविधाओं व अन्य कारणों के आधार पर होता था । ब्रिटिश शासन ने लगान नगदी के रूप में वसूल करना शुरू किया, जिसका पहाड़ों की आर्थिक अवस्था पर कमर तोड़ बोझ पड़ा । क्योंकि यहां की अर्थव्यवस्था में नकद पैसे की कमी होती थी जिससे मात्र जीवन निर्वाह ही सम्भव हो पाता था । मैदानी क्षेत्रों की तुलना में कांगड़ा क्षेत्र की भूमि की काफी कम उत्पादकता की दृष्टि से यह लगान राशि महत्वपूर्ण नहीं थी । इससे ब्रिटिश सरकार ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त यह अनुमान लगा लिया कि पहाड़ी क्षेत्र भू-राजस्व-लाभ इतना नहीं दे सकता जिससे प्रशासनिक खर्चों की पूर्ति हो सके ।

ब्रिटिश सरकार का ध्यान देवदार, खैर व चील (जिसे कांगड़ा के बाहर के क्षेत्रों में चीड़ की संज्ञा दी जाती है) के विस्तृत क्षेत्र में फैले जंगलों की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि इनका इमारती लकड़ी के रूप में व्यापारिक दोहन किया जा सकता था ।

लगान की नकद वसूली करने के परिवर्तन के साथ ब्रिटिश सरकार ने अब निजी तौर पर काश्त की गई गांव की तमाम भूमि पर एक मुश्त आंके गए लगान की वसूली का जिम्मा भू-स्वामी किसानों पर सामूहिक रूप से डाल दिया । जबकि ऐसी राजस्व व्यवस्था के लिए किसानों का सह-स्वामित्व संस्था जैसा आचरण आवश्यक था । इस नये सामुदायिक व्यवहार के लिए कोई संस्थागत रचना तन्त्र खड़ा नहीं किया गया, यद्यपि सार्वजनिक भूमि का निजीकरण देखने में समानता वादी लगता था । पर समुदायों का जाति श्रेणियों में बंटा होने के कारण गांवों में सान्झे-स्वामित्व भावना का स्तर अति निम्न था । इसके कारण कुलीन वर्ग के भू-स्वामियों का, आर्थिक और सामाजिक तौर से कमजोर जातियों पर नियन्त्रण दृढ़ हो गया ।

आरम्भिक ऐतिहासिक वृत्तान्त बताते हैं कि घुमन्तु-पशु-चरागाही का विकास प्राकृतिक संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग के रूप में हुआ । इससे नाजुक और सीमित कृषि भूमि पर निर्भरता को विविधतापूर्ण आजीविका का आधार प्राप्त हुआ । इन पशु-चरागाही में कबीलों के पास पशुओं के बड़े बड़े रेबड़ होते थे और वे इन्हें सर्दियों में घाटी, और अन्य मौसमों में पहाड़ी के स्थायी चरागाहों पर चुगाते थे । वनों में चराई के इन अधिकारों को पारंपरिक वारिसी के रूप में मान्यता दी गई थी । 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों की रुचि, इमारती लकड़ी और व्यापारिक वानिकी में अत्यधिक बढ़ गई, क्योंकि इसमें बेहतर कमाई की संभावना थी । यद्यपि वनों पर चराई का दबाव ज्यादा नहीं था, फिर भी अंग्रेज वन भूमि को चराई के दबाव से मुक्त कराना चाहते थे ।

चराई टैक्स की नगद वसूली, रेबड़ों के आकार पर नियन्त्रण और घुमन्तु पशु पालकों को एक स्थान पर बसने व काश्तकार बन जाने के लिए प्रोत्साहित करने जैसे कदम उठाकर चराई को हतोत्साहित किया गया ।

वन प्रबन्धन की पद्धतियां

हिमाचल के अन्य भागों की तरह कांगड़ा की पहाड़ियों में भी वन, लोगों की सामाजिक-आर्थिक नियति और राज्य की राजनैतिक शक्ति का निर्माण और निर्धारण करने में प्रमुख भूमिका निभाते थे । वन प्रबन्धन की पद्धतियों में बदलाव के चलते, लोगों का उनके वनों के साथ सम्बन्ध, मूलभूत रूप में, नए तरीके से परिभाषित हुआ । 1846 में जब अंग्रेजों ने कांगड़ा पर अधिकार कर लिया, वे भूमि व वनों के उपयोग की पेचीदा पद्धतियों को देखकर चकरा गए। जो जमीनें राजाओं की मलकीयत थी वे चूक से ही राज्य की सम्पति बन गई। इस प्रकार वनों को उपायुक्त के नियन्त्रण में दे दिया गया ।

“मौजा” जो छोटे-2 गांवों का समूह होता था, राजस्व के लिए बुनियादी इकाई माना गया । मौजा के भीतर की तमाम ज़मीनों और निवासियों के बर्तनदारी जंगलों को सह-स्वामित्व संस्था के नाम कर दिया गया । यह सह-स्वामित्व संस्था मौजा के निवासियों के इक्वटे से बनती थी ।

शुरू में सरकार ने वन सम्पति पर सामान्य अधिकार ही अपने पास रखे। जिसके अन्तर्गत इमारती लकड़ी पर सरकार का अधिकार था, हां, गांव वासियों को कृषि की जरूरतों के लिए लकड़ी व ईंधन लेने का अधिकार था । ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए सरकार ने बड़े पैमाने पर बड़े बड़े भवन बनाने का काम, देशभर में रेलमार्गों का जाल बिछाने के साथ साथ आरम्भ किया । इन दोनों कार्यों में इमारती लकड़ी की भारी आवश्यकता थी । वे वन जो पर्याप्त मात्रा में उपयुक्त किस्म की इमारती लकड़ी उपलब्ध करा सकते थे, हिमालय की ढलानों पर स्थित थे । ब्रिटिश सरकार ने फिर वन भूमि पर नियन्त्रण की प्राथमिकताओं को निर्धारित करना शुरू किया । सन 1853 तक वन क्षेत्रों की मिट्टी पर लोगों का अधिकार था और अपने आप उगे पेड़ों की वास्तविक मलकीयत सरकार के पास थी । अब किसी प्रकार की औपचारिक घोषणा के बिना, सामुदायिक वनों को छोड़ कर समस्त वन क्षेत्रों का प्रबन्धन व नियन्त्रण सरकार ने अपने हाथ में ले लिया¹ ।



कांगरा वन सहकारी सभा के अरला सलोह वन

सन् 1870 में वन विभाग के गठन के साथ ही वन दोहन का कार्य संस्थागत बन गया । सरकार ने 6,500 हैक्टेयर से भी अधिक वन क्षेत्र को संरक्षित घोषित किया और उसमें तर्क यह था कि “कुछ वनों को लोगों के अधिकारों के कारण उन पर पड़ रहे भार से मुक्त करना आवश्यक है ।” दूसरे शब्दों में लोगों के हित – में लोगों से बचाना, परन्तु इस तथ्य को अनदेखा किया गया कि हजारों वर्षों से स्थानीय-समुदायों ने अपने जंगलों का सफल प्रबन्ध किया है । इन संरक्षित वनों में लोगों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं था, और इसके बदले में प्रभावित समुदायों को उनके गांवों के समीपस्थ वन उसी मात्रा में दिए गये और उसके साथ विशेष धन राशि और भू-रियायतें भी प्रदान की गई ।

आरम्भिक-बन्दोवस्त अधिकारी लोक समुदायों के वनों से सम्बन्धों के प्रति संवेदनशील थे किन्तु नये वन अधिकारी वैज्ञानिक वानिकी के सिद्धान्तों का अनुसरण करने लगे, उनका मानना था कि वन ऐसे संसाधन हैं जिन से होने वाली आय, यथा इमारती लकड़ी व राजस्व को उच्चतम सीमा पर पहुंचाया जाना चाहिए । वे सभी वन जिनमें ऐसे पेड़ थे, जिनसे इमारती लकड़ी उपलब्ध

नहीं होती, उन्हें बन्जर का नाम दिया गया और इस तरह उनकी भू-संरक्षण, जल संरक्षण व वन्यजीवों को आवास प्रदान करने की क्षमता जैसे पहलुओं को दूसरे दर्जे का महत्व दिया गया ।

नए वन अधिनियम पास करके सरकार ने अपने इरादों को कानूनी बल प्रदान किया और वर्ष 1897 तक लगभग 5500 हैक्टेयर वन क्षेत्र सीमांकित संरक्षित वन अधिसूचित कर दिया गया-जिसके लिए वन विभाग पूरी तरह जिम्मेवार था । इस प्रकार के वनों में पेड़ों पर सरकार का अधिकार होता था, किन्तु उपभोक्ताओं के अधिकारों को संरक्षित रखा जाता था । मिट्टी पर लोगों का अधिकार था । इस वन भूमि का कोई और प्रयोग नहीं किया जा सकता था और इस का 1/4 से 1/3 भाग पुनरूत्पादन हेतु बन्द किया जा सकता था । वन एवं चरागाहों को बड़े पैमाने पर व्यापारिक वनों में परिवर्तित कर दिया गया । सरकारी वनों के सघन दोहन के लिए छोटी-मोटी मजदूरी उपलब्ध कराने के कारण वन ठेकेदार गांव की अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बन गए । वन-मजदूरी जैसे कार्य में रूचि लेने के कारण गांव समुदाय विभाजित हो गए । इससे वनों के व्यापारीकरण में निहित सरकारी स्वार्थ का विरोध दबता गया ।

अन्य आर्थिक परिवर्तनों में कांगड़ा के पर्वतीय क्षेत्रों का मैदानों की दमकती बाजार अर्थ-व्यवस्था से जोड़ना और स्थानीय सरकारी दफ्तरों की विस्तृत संरचना द्वारा निर्वाह के नए साधन व अवसर उपलब्ध कराना शामिल थे । कांगड़ा के धनी वर्गों ने पहाड़ी कृषि की परिसीमाओं की प्रतिक्रिया में वैकल्पिक विविधापूर्ण जीवन-निर्वाह का आधार विकसित किया । उन्होंने कृषि के अतिरिक्त लाभ कमाने के विकल्पों के बीच ऊंचे दर्जे की गतिशीलता और जोखिम उठाने की शक्तिशाली योग्यता के बूते पर पहाड़ी अर्थ व्यवस्था के मुद्रीकरण का पूरा पूरा लाभ उठाया ।

इस तरह से उन्होंने राज्य के हितों को बढ़ावा दिया और साथ ही गांव की अर्थव्यवस्था पर अपनी पकड़ को अधिक मजबूत किया । मूलतः मध्यस्तरीय कृषक जातियों को वनों के उपयोग व पहुंच में आई कमी का अधिकतम नुकसान हुआ । यद्यपि ये जातियां जनसंख्या का दो तिहाई भाग थी, लेकिन

जिला भर में बिखरी होने के कारण इन नीतियों का सशक्त विरोध करने के लिए संगठित न हो सकी ।

कांगड़ा में वन प्रबन्धन की यह एक महत्वपूर्ण और अनुपम विशेषता थी कि सदियों से औपचारिक रूप से बर्तनदारी अधिकार प्रति परिवार सही-2 दर्ज किए जाते थे, जिसमें कौन किस वन में बर्तनदारी के लिए जा सकता है यह भी दर्ज था । वर्ष 1890 में इन्हें परिवार के कानूनी अधिकार के रूप में मान्यता मिली पर सन् 1920 तक परम्परागत वानिकी संरक्षण की दृष्टि से इन अधिकारों को बोझ समझा जाने लगा । राज्य की नीति में घोषणा की गई कि “जिन वनों पर ये अधिकार स्वीकार्य हैं, उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाए”² तो इन अधिकारों का प्रयोग नहीं किया जा सकता । सीमान्त किसानों, मुजारों फसल के पत्तीदारों के अधिकारों को परिसीमित करते हुए लोगों के अधिकारों की ऐसी पुनर्संरचना के लिए ऊंची जाति के लोगों के बढ़ते प्रभाव को इस्तेमाल किया गया । ये वही लोग थे जो राज्य के प्रबल व्यापारिक हितों में सहभागी बनकर वनों के व्यापारिक दोहन के पक्ष में अधिकारों की पुनर्व्याख्या करना चाहते थे ।

ब्रिटिश काल में जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई; वर्ष 1901 तक कांगड़ा में जनसंख्या घनत्व 322 व्यक्ति प्रति किलोमीटर काश्त-क्षेत्र तक पहुंच गया । इसके साथ-साथ पशुधन कृषि और आवासीय आवश्यकताओं में हुई वृद्धि का गांव के वनों अथवा अवर्गीकृत वनों पर भारी जैविक दबाव पड़ा । यहां तक कि सीमाङ्कित, संरक्षित वन भी अपर्याप्त सिद्ध हुए । स्थानीय चरान-प्रबन्ध व्यवस्था के अन्तर्गत पशुधन विभिन्न मौसमों में भिन्न भिन्न क्षेत्रों में चराए जाते थे । भूमि सम्बन्धी नीतियों के सिकुड़ते चरागाह क्षेत्र के कारण उस व्यवस्था पर काफी भार बढ़ा । सीमित सामुदायिक भूमि पर निर्वाह हेतु किए दोहन का स्तर उचित सीमा से बढ़ गया और भूमि विकृत होने लगी । इससे सीमाङ्कित व असीमाङ्कित संरक्षित वनों पर जैविक दबाव बढ़ गया ।

इस वन विनाश को रोकने के लिए वन विभाग द्वारा निम्नलिखित नियन्त्रक कार्य नीति अपनाई गई ।

आरक्षण अर्थात् मौजूदा खड़े वनों के संरक्षण के लिए वनों पर लोगों के अधिकारों को कम करना या उनकी काट-छांट करना ।

वन विभाग ने अवर्गीकृत वनों व शामलात को अपने अधिकार में ले कर उन्हें आरक्षित वनों की तरह उपयोग हेतु बन्द करने का प्रयास किया । जबकि वह पहले ही अपर्याप्त थे और इससे-कृषक-जातियों में विरोध जगा ।

टैक्स लगाकर रेबड़ छोटे करना अत्याधिक चराई को सीमित करने के लिए कृषि की आवश्यकताओं से भेड़ों के बजाए बकरियों के रेबड़ों पर भावपूर्ण टैक्स लगाए गए । स्थानान्तरण करने वाले पशुओं पर चराई शुल्क और स्थानीय पशुओं पर पशु-शुल्क लगाया गया । इस तरह, कृषि के हित में - काशत या चरान के लिए विभिन्न प्रकार की भूमि के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयास किए गए ।

बारी बारी से बन्द करने का विधान अर्थात् गांव समुदायों द्वारा चरागाहों और बन्जरों को बारी बारी से उपयोग के लिए बन्द करने का प्रयास । इस प्रकार के प्रयास तीव्र गति से वनों की बिगड़ती स्थिति को संवारने में सफल न हुए और इसी कारण बहुत से गांव समुदायों ने इसका विरोध किया ।

वन संसाधनों की स्थिति

ब्रिटिश नीतियों ने लोगों की मुख्य वनों तक पहुंच पर प्रतिबन्ध लगा दिया और वनों पर उनकी निर्भरता को कम कर दिया । ऐसा करने के लिए सरकार ने वनों को चील, खैर और देवदार के एक ही किस्म के व्यापारिक वनों में परिवर्तित कर दिया क्योंकि इन वनों से लोगों की तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती थी । इन नीतियों द्वारा-खुले छोड़े गए कुछ झाड़ियों के वनों पर जैविक दबाव बढ़ गया । निजी कृषि भूमि के साथ यह वन चारा और ईंधन का मुख्य स्रोत बन गए ।

इसी के साथ सरकार ने घुमन्तु पशुपालन पर रोक लगा दी, जबकि यह पहाड़ी क्षेत्रों का मुख्य व्यवसाय था । और ऐसा करने के लिए पशुचारकों को व्यवस्थित कृषि करने के लिए बाध्य किया गया । बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक कोई अधिक भूमि कृषि के लिए साफ नहीं की जा सकी । निरन्तर

बढ़ रहे भू-विखण्डन के कारण कृषि भूमि कृषि कार्य में आए नये परिवारों की चारा व ईंधन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं रही । चारा पूर्ति का दबाव भी पहले से ही दबाव-ग्रस्त झाड़ी वाले जंगलों पर बढ़ा - विशेषकर उन वनों पर जो कांगड़ा के वर्षा पर आधारित-मात्र जीविका उपलब्ध करा पाने की क्षमता वाले-कच्चे-शिवालिक पहाड़ी क्षेत्रों में स्थित थे । यह वन जो लम्बे समय से स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते आ रहे थे, उन्हें अचानक दोहन प्रक्रियाओं में तीव्र बढ़ोत्तरी को झेलना पड़ा । ढलानों पर कटान से नग्न कर दिए गए क्षेत्रों को भारी वर्षा का सामना करना पड़ा और अभूतपूर्व भूक्षरण आरम्भ हो गया ।

वन विभाग असीमाङ्किक वनों में वनों के अभाव और भूक्षरण के लिए-अवैध कटान और अनियन्त्रित चरान को दोषी ठहराने लगा, विभाग यह भूल गया कि यह सरकार की अधिक राजस्व एकत्रित करने वाली नीतियों का परिणाम था । जंगलों को खाली करके उन्हें व्यापारिक जंगलों में परिवर्तित करने का यह परिणाम हुआ कि लोगों को अपनी जरूरत के लिए चारा व ईंधन की निकासी के लिए बचे-खुचे वनों पर आश्रित होना पड़ा और इससे तीव्र गति से वनों की दुर्गति हुई । भागीदारी-रहित वन प्रबन्ध से ही उड़ाऊ और अवैध निकासी को प्रोत्साहन मिला । वन विभाग के कुछ संरक्षण-मानसिकता वाले वन वैज्ञानिकों ने इस संरक्षण पद्धति द्वारा हुई पर्यावरण-क्षति का उदाहरण देते हुए भीतर से ही वैकल्पिक वन प्रबन्ध पर जोर देते हुए वन विभाग को सहभागी वन प्रबन्ध की ओर बदलाव के लिए प्रोत्साहित किया ।

वन विभाग भी ऐसा करने के लिए दबाव अनुभव करने लगा क्योंकि वनों से काफी कम लाभ होने लगा था । इससे यह निर्णय लेने में सहायता मिली, कि वन प्रबन्ध योजना में कुछ बदलाव लाने का प्रयोग किया जाए जिसके अन्तर्गत वनों का उपयोग करने वालों को वनों के संरक्षण सम्बन्धी अधिक जिम्मेवारी सौंपी गई और वनों से होने वाले लाभ का भाग उन्हें देने का प्रावधान रखा गया । पहाड़ी क्षेत्रों की विशेष समस्याएँ जैसे-कठिन-पहुंच नाजुकता, सीमान्तता और विविधता (जोधा 1990) भी केन्द्रीकृत और व्यापारिक वन प्रबन्ध को आर्थिक और पर्यावरण की दृष्टि से अनुपयुक्त ठहराने का कारण

बनी । साथ ही इन समस्याओं के कारण वैकल्पिक वन प्रबन्धन को प्रोत्साहन भी मिला ।